



रामकालीन समाज की शासन एवं न्याय व्यवस्था

एस0एस0 उपाध्याय

पूर्व जनपद एवं सत्र न्यायाधीश/
पूर्व विधिक परामर्शदाता मा0 राज्यपाल
उत्तर प्रदेश, राजभवन, लखनऊ
मो0 : 9453048988
E-mail: ssupadhyay28@gmail.com

1. सभ्य मानव समाज के सम्पूर्ण इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य सहज रूप से स्पष्ट होता है कि व्यवस्थित व सभ्य मानव समाज एवं विधि के शासन की अवधारणा साथ-साथ अस्तित्व में आये हैं। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि व्यवस्थित मानव समाज की उत्पत्ति का प्रमुख कारक विधि का शासन (rule of law) ही रहा है। भारतीय संदर्भों में यदि देखा जाए तो प्राचीन ऋग्वैदिक काल से ही भारतीय समाज 'धर्म' अथवा 'विधि' से शासित होता आया है। भारतीय समाज संरचना एवं समाज-संचालन की दृष्टि से 'धर्म' का अर्थ वर्तमान में प्रचलित धार्मिक क्रिया-कलापों से नहीं रहा है अपितु 'धर्म' बड़े ही व्यापक अर्थों एवं सन्दर्भों में समझा जाता रहा है। भारतीय चिन्तन परम्परा में शब्द 'धर्म' उपासना पद्धति, पूजा पद्धति, कर्मकाण्ड, मजहब अथवा मजहबी क्रिया-कलापों के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है अपितु 'धर्म' का तात्पर्य श्रेष्ठतम आदर्शों, नैतिक व मानवीय मूल्यों व कर्तव्यों से रहा है। 'धर्म' नैतिक एवं मानवोचित अवधारणा के रूप में जाना जाता था जो मानव जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप एवं चिन्तन का विनियम (regulation) करता था। भारतीय मनीषियों एवं समाजशास्त्रियों के चिन्तन में 'धर्म' को 'विधि' का ही पर्याय माना जाता रहा है। धर्म वास्तव में समाज द्वारा अपने नियमन एवं संचालन के लिए स्वीकार की गयी आचार संहिता (Code of Conduct) की भांति था। सर्वस्वीकार्य एवं सर्वमान्य इसी आचार संहिता को प्राचीन भारत में धर्म अथवा विधि का स्थान प्राप्त था। यही धर्म अथवा विधि वास्तव में मनुष्य एवं मनुष्य के परस्पर संबंधों को पारिभाषित एवं विनियमित करता था। इस धर्म अथवा विधि अथवा आचार संहिता का निर्धारण प्राचीन भारत के मनीषियों एवं समाजशास्त्रियों द्वारा मानवोचित नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों के आधार पर किया गया था।
2. महाराज मनु ने भी मनुस्मृति में 'धर्म' को ही 'दण्ड' अथवा 'दण्ड' को ही 'धर्म' कहते हुए धर्म और दण्ड की महत्ता इस प्रकार व्यक्त की है: **दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति, दण्डः सुप्तेषुजागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः** जिसका अर्थ है कि दण्ड अर्थात् धर्म ही राजा सहित प्रजा पर शासन करता है, दण्ड/धर्म ही सभी की रक्षा करता है, सभी के सो जाने पर भी दण्ड/धर्म ही जागता रहता है, इसीलिए विद्वानों ने धर्म को ही दण्ड कहा है। दूसरे शब्दों में धर्म ही समाज का नियमन करता रहा है और इसीलिए धर्म और उसके सिद्धान्त अथवा सूत्र समाज में व्यवस्था बनाए रखने के आशय से विधि की भांति मान्य एवं अनुसरणीय रहे हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार '**धर्मेण धार्यते लोकः**' की अवधारणा ही समाज की व्यवस्थाओं के संचालन की दृष्टि से मार्ग-दर्शक सूत्र था। इसीलिए भारतीय समाजशास्त्रियों का मत था कि '**धर्मेण शासिते राष्ट्रे न च बाधा प्रवर्तते**' जिसका आशय है कि धर्म अर्थात् विधि से शासित राष्ट्र अथवा समाज में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है। विधि की शक्ति व सर्वोच्चता का उल्लेख उपनिषदों में इस प्रकार किया गया है: "Law is the King of Kings, And more powerful than the Kings, Nothing can be mightier than the Law, by whose strength the weak may prevail over the King."

3. राजतंत्र में राजा ही सर्वोच्च शासक होता था। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं की भाँति राजा का चयन निर्वाचन द्वारा नहीं होता था अपितु अधिकांश मामलों में राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राजा के बाद राजा होता था। आधुनिक शासन प्रणालियों में राष्ट्र को ही सर्वोच्च सम्प्रभु (soverign) माना जाता है। सम्प्रभु दो शब्दों सम + प्रभु से बना है। 'सम' का अर्थ समान अथवा बराबर तथा 'प्रभु' का अर्थ स्वामी, ईश्वर अथवा सर्वशक्तिसंपन्न होता है। इस प्रकार 'सम्प्रभु' का अर्थ सर्वशक्तिमान होता है। सम्प्रभु का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि यद्यपि सम्प्रभु स्वयं प्रभु अर्थात् ईश्वर तो नहीं होता है परन्तु उससे कम भी नहीं होता है अपितु उसी के समतुल्य अथवा बराबर होता है। इस प्रकार सम्प्रभु अथवा राष्ट्र-राज्य (Nation-State) यद्यपि सर्वशक्तिसंपन्न प्रभु अथवा ईश्वर तो नहीं हो सकता है परन्तु उससे कम भी नहीं होता है अपितु उसके बराबर होता है। राष्ट्र-राज्य की समस्त शक्तियाँ इसी कारण स्वयं राष्ट्र-राज्य में निहित होना मानी जाती हैं। चूँकि राष्ट्र-राज्य कोई जीवित व्यक्ति (living person) नहीं होता है अपितु एक सम्प्रभु अवधारणा (Soverign Concept or Soverign Entity) होता है और व्यक्ति की भाँति स्वयं न तो अपने विचार एवं आदेश आदि को प्रकट व संसूचित कर सकता है और न ही प्रजा पर शासन संबंधी अन्य कार्य का स्वयं संपादन ही कर सकता है अपितु इसके लिए उसे किसी जीवित व्यक्ति की आवश्यकता होती है जिसके माध्यम से सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य अपने दायित्वों व कार्यों का संपादन करता है, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'राजा अथवा शासक' का चयन/नियुक्ति की जाती है ताकि सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य शासन संबंधी अपने समस्त कार्यों का संपादन इसी राजा अथवा शासक के माध्यम से कर सके। सभ्य मानव समाज में अनादि काल से राजा अथवा शासक की उत्पत्ति इसी अवधारणा के कारण होती चली आयी है। राजा अथवा शासक वास्तव में स्वयं न तो शासन संबंधी शक्तियों का स्रोत होता है और न ही स्वामी होता है अपितु वह सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य से ही शासन संबंधी अपनी समस्त शक्तियाँ ग्रहण करता है और उसी के अनुरूप राष्ट्र-राज्य की ओर से व राष्ट्र-राज्य के लिए प्रजा पर शासन करता है। राजा अथवा शासक को इस प्रकार सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य का वक्ता, प्रवक्ता, प्रधान कार्यकर्ता, प्रतिनिधि, सेवक अथवा प्रधान सेवक, आज्ञापालक, अनुचर अथवा कुछ भी कह सकते हैं। यह राजा अथवा शासक सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य से न तो ऊपर होता है और न ही सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य द्वारा प्रजा पर शासन के लिए स्वीकार किये गये मापदण्डों अथवा सिद्धान्तों अथवा विधियों से ऊपर होता है अपितु उनके अधीन ही होता है। इसलिए राजा अथवा शासक कदापि स्वेच्छाचारी अथवा निरंकुश नहीं हो सकता है अपितु राष्ट्र-राज्य द्वारा स्वीकार की गई विधियों के अधीन होता है और विधियों के निर्देशानुसार ही उसे राष्ट्र-राज्य की शासन व्यवस्था का संचालन करना होता है। सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य का प्रतिनिधि होने के कारण इंग्लैण्ड में राजा को **Rex is Lex** कहा जाता था जिसका अर्थ है कि राजा ही कानून है अर्थात् राजा जो कहे वही कानून है परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भारतीय समाजशास्त्रियों एवं विधिशास्त्रियों का मत इससे अलग था और वह राजा को कानून का पर्याय अथवा स्रोत नहीं मानते थे अपितु राजा को कानून के अधीन मानते थे। इंग्लैण्ड में यह भी कहावत थी कि **King commits no wrong** जिसका अर्थ है कि राजा कोई गलती नहीं करता है अर्थात् राजा जो कुछ भी करता है सब सही करता है जबकि भारतीय चिन्तन दृष्टि इसके विपरीत थी और विधियों की अवहेलना करने पर राजा भी दण्ड का भागी हो सकता था। आज संसार भर में यही सनातन भारतीय समाजशास्त्रीय एवं विधिक चिन्तन ही सर्वमान्य व सर्वस्वीकार्य है। विधि के शासन की सर्वोच्चता को लेकर प्राचीन भारतीय चिन्तन दृष्टि कितनी श्रेष्ठ एवं तर्कसम्मत थी, इससे कदाचित कई भारतीय परिचित नहीं हैं जिसके कारण वह विधि की सर्वोच्चता संबंधी अवधारणाओं की उत्पत्ति यूरोप एवं अमेरिका में होना मानते हैं जो सही नहीं है। विश्व को विधि की

सर्वोच्चता का प्रथम बार बोध वास्तव में प्राचीन भारत द्वारा ही कराया गया था जिस पर हर भारतीय को गर्व का बोध करना चाहिए।

4. आधुनिक समय में संसार के विभिन्न राष्ट्र विभिन्न प्रकार की शासन प्रणालियों यथा लोकतांत्रिक प्रणाली, साम्यवादी, पूँजीवादी, वामपंथी, दक्षिणपंथी, तानाशाही आदि से संचालित होते हैं। प्राचीन समय में भारत सहित संसार भर में राजतंत्रीय व्यवस्था थी। प्राचीन समय में राजा ही सम्प्रभु होता था। आधुनिक समय में राष्ट्र-राज्य की तीनों प्रमुख शक्तियाँ तीन अलग-अलग संस्थानों- कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका में निहित होती है, प्राचीन राजतंत्रों में यह तीनों शक्तियाँ अकेले राजा में ही निहित होती थी और राजा ही समस्त प्रकार की कार्यपालक, विधायी एवं न्यायिक शक्तियों का स्रोत होता था। आधुनिक समय में शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त शासकों को निरंकुश, स्वेच्छाचारी एवं लोक-विरोधी होने से रोकने के लिए किया गया है। तो क्या प्राचीन भारत में शक्ति पृथक्करण के अभाव में राजा अथवा शासक निरंकुश, स्वेच्छाचारी अथवा लोक-विरोधी होता था अथवा राजा के अनुसरण व दिशा-निर्देश के लिए विधियाँ विद्यमान नहीं थी? प्राचीन भारत में शासन के संचालन के लिए एवं राजा के दिशा-निर्देश के लिए विधियों के निर्माण का दायित्व उस समय के समाजशास्त्री चिन्तकों व विद्वानों पर था और वह देश-काल की आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर विधियों का निर्माण करते रहते थे जिनका अनुसरण राजा प्रजा पर शासन करने में करता था । वेदों एवं उपनिषदों के समय के वैदिक ऋषियों सहित उत्तरवर्ती काल के विभिन्न समाजशास्त्रियों यथा-नारद, बृहस्पति, याज्ञवल्क्य, मनु, चाणक्य जैसे आचार्यों ने समय-समय पर समाज के मार्गदर्शन के लिए सिद्धान्त व सूत्र दिये जिनसे भारतीय समाज शासित होता रहा है । याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद-स्मृति, बृहस्पति-स्मृति, पाराशर-स्मृति, मनुस्मृति एवं चाणक्य नीति जैसे अनेकानेक ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है जिनमें विधियों संबंधी असीमित ज्ञान सामग्री भरी पड़ी है। समाजशास्त्री आचार्यों द्वारा अपनी-अपनी उपरोक्त रचनाओं में शासन के संचालन हेतु राजा के लिए विपुल विधिक सामग्री दी गयी है जिसका अनुसरण राजा शासन के संचालन में करता था । आधुनिक विधायिका (संसद एवं राज्यों की विधान सभाओं व विधान परिषदों) की भाँति प्राचीन भारत में विधियों के निर्माण के दायित्व का निर्वाह वास्तव में समाजशास्त्रीय चिन्तक आचार्यों द्वारा किया जाता था और वह राजा के लिए आवश्यक विधियों का निर्माण अपनी-अपनी रचनाओं द्वारा करते रहते थे। आधुनिक विश्व में जितनी भी विधियाँ एवं शासन प्रणालियाँ उपलब्ध हैं, उनसे संबंधित विधिक सिद्धान्त प्रचुर मात्रा में अनेकानेक प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में विद्यमान हैं जिन्हें संसार के सामने लाकर उनसे परिचित कराये जाने की आवश्यकता है। आधुनिक शासन प्रणालियों एवं विधिक सिद्धान्तों का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जिसका उल्लेख किसी न किसी प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में भारतीय आचार्यों द्वारा नहीं किया गया हो । परन्तु प्रश्न यह है कि भारत की इस प्राचीन ज्ञान-संपदा व चिन्तन-संपदा से संसार को अवगत कौन कराये ? आज के समय में बड़ी संख्या में कथाकार, किस्साकार, भागवताचार्य, धर्माचार्य व प्रवचनकर्ता आदि विभिन्न प्रकार के संचार माध्यमों का उपयोग करते हुए लोगों को कर्मकाण्ड, धार्मिक क्रिया-कलापों, किस्सा-कहानियों आदि के बारे में बताते हुए प्रायः देखे जा सकते हैं परन्तु उनकी किस्सागोई एवं उपदेशों में प्राचीन भारत की उक्त महानतम ज्ञान संपदाएं क्यों स्थान नहीं पाती हैं, इस पर न केवल बौद्धिक व अकादमिक वर्ग को विमर्श करना चाहिए अपितु उन्हें प्रेरित भी किया जाना चाहिए कि वह अपने-अपने उपदेशों एवं किस्सागोई के कार्यक्रमों के दौरान जनमानस को भारत की इस प्राचीन ज्ञान संपदा से भी अवगत करावें और प्राचीन भारत के महान चिन्तक आचार्यों की उपरोक्त बौद्धिक एवं अकादमिक श्रेष्ठता से संसार को परिचित भी करावें।

5. आधुनिक समय में समस्त प्रकार की शासन प्रणालियों में शासक के रूप में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री व मंत्री आदि अपने-अपने पद व कार्यालय का प्रभार ग्रहण करने से पूर्व पद व गोपनीयता की शपथ लेते हैं। प्राचीन भारत में भी राजा के लिए शपथ ग्रहण की यह परम्परा विद्यमान थी। सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व राजा भी पद और गोपनीयता की शपथ लेता था। तत्समय प्रचलित परम्परा के अनुसार मंत्रियों, विद्वानों एवं प्रजा की उपस्थिति में राजा को समारोहपूर्वक सिंहासन पर बैठाया जाता था। प्रथम बार सिंहासनारूढ़ होने पर राजा को उसके इस दायित्व का बोध कराया जाता था कि वह विधि से परे नहीं है अपितु विधि के अधीन है और उसे विधि के शासन की सर्वोच्चता को मानना पड़ेगा। राजा के अन्दर विधियों के प्रति उसकी निष्ठा एवं उनके अनुपालन के प्रति उसमें दायित्वबोध का भाव पैदा करने के लिए राजा का प्रधानमंत्री/पुरोहित उससे तीन बार कहलवाता था: **अदण्ड्योस्मि, अदण्ड्योस्मि, अदण्ड्योस्मि, अहं राजोस्मि, अहं राजोस्मि, अहं राजोस्मि** अर्थात् मैं राजा हो गया हूँ, मैं राजा हो गया हूँ, मैं राजा हो गया हूँ और इस कारण मैं विधियों द्वारा निर्धारित समस्त प्रकार के दण्डों से परे हो गया हूँ। तब राजा का पुरोहित धर्मदण्डरूपी पलाशदण्ड से राजा के सिर पर हल्के से तीन बार प्रहार करते हुए राजा को विधि के शासन की सर्वोच्चता का स्मरण कराते हुए कहता था: **“धर्मदण्डोस्ति, धर्मदण्डोस्ति, धर्मदण्डोस्ति”** अर्थात् तुम राजा के भी ऊपर धर्म (विधि) अथवा दण्ड का शासन है और विधि के शासन एवं विधि की सर्वोच्चता सम्बन्धी इस अवधारणा को राजा विनम्र भाव से स्वीकार करता था। इस प्रकार प्राचीन भारत में भी विधि का शासन ही सर्वोच्च था न कि शासक के रूप में राजा।
6. रामकालीन भारतीय समाज के नियमन (regulation) से सम्बन्धित विभिन्न विधिक सिद्धान्त क्या थे और उनका रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा निरूपण किस प्रकार किया गया है, उसका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ किया जा रहा है: राम जब अयोध्या से वन को जाने के लिए श्रृंगवेरपुर में गंगा तट पर पहुँचे तो भरत उन्हें मनाकर वापस अयोध्या लाने के लिए श्रृंगवेरपुर आये और तब राम ने भरत को उनके राज-धर्म का स्मरण कराते हुए उन्हें अयोध्या वापस लौट जाने और अपने राज-धर्म का पालन करने के लिए क्या कहा था, इसका उल्लेख मानस के अयोध्याकाण्ड में इस प्रकार आता है: **‘मोर तुम्हारे परम पुरुषारथ, स्वारथ सुजसु धरमु परमारथ। देसु कोसु परिजन परिवारु, गुर पद रजहिं लाग छरुभारु । तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी, पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी । राजधरम सरबसु एतनोई, जिमि मन मांह मनोरथ गोई’** जिसका तात्पर्य है कि हे भरत ! मेरा और तुम्हारा पुरुषार्थ, स्वार्थ, परमार्थ, सुयश और धर्म इसी में है कि हम दोनों भाई राज्य और उसकी प्रजा की रक्षा और भलाई करें, इसलिए तुम वापस जाकर राजधर्म का पालन करते हुए राज्य, खजाना, परिवार, गुरु, माताओं, मन्त्रियों, पृथ्वी (पर्यावरण) सहित अपनी प्रजा और राजधानी की रक्षा करो और उनका पालन-पोषण करो ।
7. आज के समय में जिसे राजनीति (politics) कहा जाता है उसी को प्राचीन भारत में राज-धर्म कहा जाता था। राज-धर्म का सम्यक् ज्ञान होना और उसका सच्चे मन से अनुपालन करना राजाओं का प्रथम कर्तव्य माना जाता था। आधुनिक समय में बहुत से लोग राजनीति और राजनीतिज्ञों को भला-बुरा कहते रहते हैं और राजनीति तथा राजनीतिज्ञों को प्रायः अच्छा नहीं मानते हैं और राजनीति में भाग नहीं लेना चाहते हैं। राजनीति की समझ नहीं रखने वालों एवं राजनीति और राजनीतिज्ञों की निन्दा करने वालों के बारे में एक जर्मन विद्वान बरटोल्ट ब्रेक्ट का यह मत वास्तव में महत्वपूर्ण है: “The worst illiterate is the political

illiterate, he doesn't hear, doesn't speak, nor participates in the political events. He doesn't know the cost of life, the price of the bean, of the fish, of the flour, of the rent, of the shoes and of the medicines, all depends on political decisions. The political illiterate is so stupid that he is proud and swells his chest saying that he hates politics. The imbecile doesn't know that, from his political ignorance is born the prostitute, the abandoned child, and the worst thieves of all, the bad politician, corrupted and flunky of the national and multinational companies-- (Bertolt Brecht)" राजनीति का आधार समाज है, शून्य (abstract) नहीं, धर्म का भी आधार कदाचित शून्य नहीं हो सकता है। धर्म जीवन और समाज को व्यवस्थित रखने अथवा उसका नियमन करने के लिये मार्गदर्शन तो कर सकता है परन्तु स्वयं व्यवस्था का संचालन नहीं कर सकता। लोक की अपेक्षा के अनुरूप व्यावहारिक होना राजनीति की विवशता है, कदाचित धर्म की नहीं। अव्यावहारिक राजनीति किसी भी के लिये त्याज्य हो सकती है। धर्म राजनीति का स्थान नहीं ले सकता यद्यपि कि धर्म राजनीति का मार्गदर्शन कर सकता है। निरा धर्म जो राजधर्म को सबल न करे और उसे लोक कल्याण के पथ पर अग्रसर न करे, निरर्थक है। समाज की व्यवस्था के लिये राजनीति पहले और धर्म बाद में चाहिये। धर्म राजनीति की मान्यताओं द्वारा स्थापित मर्यादाओं को बनाये रखने में पूरक अथवा सहायक हो सकता है परन्तु स्वयं राजनीति का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता है। राजनीति (राजधर्म) एवं धर्म पर्यायवाची नहीं है। राजनीति समाज का व्यावहारिक (Practical) पक्ष है जबकि धर्म के लिये यह आवश्यक नहीं है। धर्म सिद्धान्त अथवा आदर्श है, राजधर्म व्यवहार व यथार्थ। राजनीति और धर्म एक-दूसरे के साथ तब तक चल सकते हैं जब तक धर्म अव्यावहारिक (impracticable) न हो अन्यथा राजधर्म अपना मार्ग स्वयं चुन लेता है। धर्म द्वारा ऐसा कोई आदर्श अथवा सिद्धान्त दिया जाना उचित नहीं हो सकता है जिसका अनुसरण किया जाना राजनीति के लिये संभव न हो। राजनीति अव्यावहारिक नहीं हो सकती है। राजनीति जीवन में संघर्ष करते हुये आगे बढ़ने को कहती है। धर्म अडिग रह सकता है जबकि राजनीति का लचीला होना और देशकाल की अपेक्षाओं के अनुरूप परिवर्तनीय होना उसकी विवशता है। धर्म दो-दो बराबर चार है, राजनीति परिस्थितियों के सापेक्ष दो-दो बराबर पांच, तीन, सात, दस और कुछ भी हो सकती है परन्तु ऐसा होते हुये भी राजनीति लोक विरोधी नहीं हो सकती। धर्म लोकमत के विपरीत भी हो सकता है, राजनीति नहीं। लोकमत के विपरीत जाते ही राजनीति अपने अवसान की ओर जाने लगेगी। राजनीति अथवा राजधर्म का पालक कभी भी संतुष्ट होकर नहीं बैठ सकता है। आचार्य चाणक्य के अनुसार: **असन्तुष्टः द्विजाः नष्टाः, सन्तुष्टाश्च भूभृताः** जिसका अर्थ है: विद्वान (ब्राह्मण) यदि असन्तुष्ट रहने लगे तो वह नष्ट हो जाता है परन्तु राजा यदि सन्तुष्ट होकर बैठ जाये तो वह नष्ट हो जाता है। राजनीति का संचालक कभी संतुष्ट होकर नहीं बैठ सकता है, धर्म सदा सन्तुष्ट रहने को कहता है। जिसे राजनीति अथवा राजधर्म की समझ नहीं है, उसे धर्म की भी समझ नहीं हो सकती है। एक कुशल धर्मोपदेशक को यदि राजनीति अथवा राजधर्म की गहरी समझ न भी हो तो कम से कम उसे इसकी सामान्य समझ तो होनी ही चाहिये जैसा कि इस्लाम और ईसाइयत के धर्माचार्यों में अपने-अपने धर्मों की समझ के साथ-साथ उनमें पर्याप्त रूप से समसामयिक राजनीति की भी समझ देखने को मिलती है। महाभारत में उल्लेख आता है: **"एव धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थं संप्रलीनात्रिबोध सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मं प्रविष्टाः, सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः, राजमूला महाभागयोगक्षेमसुवृष्टयः, सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मो परायणम्"** जिसका तात्पर्य है कि सभी धर्मों से श्रेष्ठ राजधर्म है और सभी धर्मों का तत्व अथवा सार राजधर्म है।

8. भारत के वर्तमान संविधान के भाग-4 में राष्ट्र पर शासन के लिए नीति-निर्देशक सिद्धान्तों (Directive Principles of State Policy) का उल्लेख किया गया है जिसका अनुसरण शासन के संचालन हेतु नीतियों

के निर्धारण में किया जाता है। रामकालीन समाज में शासक के रूप में राम ने भी अपने शासन के संचालन के लिए कई नीतिगत सिद्धान्तों का निर्धारण किया था जो वस्तुतः आज के भारत के संविधान के भाग-4 में उल्लिखित नीति-निर्देशक तत्वों के ही समतुल्य अथवा उनसे भी श्रेष्ठ व तर्कसंगत थे जिनका उल्लेख यहाँ आगे के प्रस्तारों में किया जा रहा है। रामचरित मानस के अयोध्याकाण्ड में राजा के अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है कि राजा अथवा शासक के लिए वन जैसा भू-भाग भी उसका पवित्र देश है, विवेक उसका राजा अथवा स्वामी है और वैराग्य अर्थात् निरपेक्षता अथवा पक्षपातहीनता उसका मन्त्री है, यम (अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) और नियम (अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्राणिधान) उसके योद्धा हैं, शान्ति तथा सद्बुद्धि उसकी सुन्दर व पवित्र रानियाँ हैं राज्य के पर्यावरण, पशु-पक्षियों का संरक्षण, विद्वानों का पोषण राजा का दायित्व है। उपरोक्त नीतिगत सिद्धान्तों को अपने शासन का मार्गदर्शक सूत्र मानने वाला राजा राज्य के सात अंगों 1. राजा 2. मंत्री 3. मित्रगण 4. खजाना 5. राष्ट्र, 6 किला 7. सेना की रक्षा व संवर्द्धन करने में सफल रहता है।

9. आधुनिक विश्व की लगभग समस्त शासन प्रणालियों में लोक-कल्याण की अवधारणा को प्राथमिकता देने का दावा किया जाता है। भारत सहित संसार के बहुत से राष्ट्र अपने को लोक-कल्याणकारी राष्ट्र-राज्य (Peoples' Welfare State) मानते हैं। लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा (Concept of Peoples' Welfare State) राम की शासन व्यवस्था की केन्द्र बिन्दु थी। शासक के रूप में राम अपनी प्रजा के हित को अपने किसी भी सगे संबंधी के हित से ऊपर मानते थे और निजी संबंधों को प्रजा के हित साधन में बाधक नहीं बनने देते थे। लोक कल्याण एवं निजी संबंधों के बीच के अंतर के बारे में अपने अनुज लक्ष्मण द्वारा पूछे गये एक प्रश्न के उत्तर में राम ने लक्ष्मण को लोक कल्याण को निजी संबंधों के ऊपर प्राथमिकता देते हुए अपनी नीति स्पष्ट की थी जिसका वर्णन 8वीं शताब्दी के संस्कृत कवि व नाटककार भवभूति ने अपने नाटक 'उत्तर रामचरितम्' में निम्नांकित प्रकार किया है: **“स्नेहं दयां सौख्यं च यदि व जानकीमपि, आराधानाय लोकस्य मुन्यतो नास्ति मे व्यथा”** जिसका अर्थ है कि यदि मेरे किसी भी नजदीकी व्यक्ति के प्रति मेरा स्नेह, मेरी दया अथवा मेरा निजी सुख और यहाँ तक कि स्वयं जानकी जी (सीता) भी यदि शासक के रूप में प्रजा के कल्याण के मेरे कार्य में बाधक बनें तो मैं इन सब का परित्याग करने में तनिक भी संकोच नहीं करूँगा और इन सबका परित्याग करने में मुझे तनिक भी व्यथा नहीं होगी। प्रजा के हित और अपने सगे संबंधियों अथवा अपने निजी हित के बीच शासकों में प्रायः पाया जाने वाला हितों का टकराव (conflict of interest) राम की शासन-नीति में दूर-दूर तक विद्यमान नहीं थी। आधुनिक भारत में विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा गठित की जाने वाली सरकारें जिस रामराज्य की स्थापना का दावा करती आई हैं, वह वास्तव में रामकालीन शासन व्यवस्था की उपरोक्त लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ही है न कि कोई नई अवधारणा। लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के श्रेष्ठ सिद्धान्त के आधार पर अपने राज्य की स्थापना करने वाले एवं उसके अनुसार शासन का संचालन करने वाले राजा राम की उक्त शासन-नीति संसार भर के आज के शासकों के लिए एक आदर्श उदाहरण है।
10. जिस प्रकार आधुनिक समाज में बच्चों में अच्छे संस्कार व अच्छी आदतें डालने का दायित्व माता-पिता सहित बड़े भाई व शिक्षक आदि पर होता है उसी प्रकार राम-राज्य में भी था। उत्तरकाण्ड का यह नीति वाक्य दृष्टव्य है: **‘राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती, नाना भाँति सिखावहि नीती’** जिसका तात्पर्य है कि श्री राम के चारों भाइयों में न केवल परस्पर प्रेम व एक-दूसरे के प्रति आदर भाव था अपितु बड़ा भाई होने के कारण राम अपने छोटे भाइयों को समस्त प्रकार की नीतियाँ अर्थात् विधि आदि की जानकारियाँ करवाते

रहते थे। रामकालीन समाज में लोगों में परस्पर सम्बन्ध कैसे थे इसका उल्लेख मानस के उत्तरकाण्ड में गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार किया है: **‘सब नर करहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्म निरत श्रुत नीती, चारिउ चरन धर्म जग माहीं, पूरि रहा सपनेहुं अघ नाहीं’** जिसका तात्पर्य है कि राम-राज्य में सभी लोग परस्पर प्रेम करते थे और धर्मसम्मत अर्थात् विधि द्वारा निर्धारित मापदण्डों के अनुसार रहते हुए अपने-अपने कार्य का सम्पादन करते थे और जीवन के चारों चरणों अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ जीवन, वानप्रस्थ एवं सन्यास काल में सदैव धर्मसम्मत अर्थात् विधिसम्मत आचरण करते थे और स्वप्न में भी विधि का अतिक्रमण नहीं करते थे। राम के राज्य में कोई भी व्यक्ति रोजगार विहीन अथवा निकम्मा नहीं था, न ही अशिक्षित अथवा कौशल विहीन था। कोई भी व्यक्ति दुखी, दरिद्र अथवा दीन-हीन नहीं था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है: **‘नहि दरिद्र नहि दुखी न दीना, नहि कोऊ अबुध न लच्छन हीना’**। सभी व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता, क्षमता और कौशल (skill) के अनुसार अपने-अपने कार्यों में संलग्न रहते थे। लोगों के पास रोजगार और काम होने के कारण कोई भी खाली नहीं बैठा था। एक मशहूर कहावत है- खाली दिमाग, शैतान का घर- अर्थात् यदि व्यक्ति रोजगार विहीन है तो वह अपना खाली समय अपराध अथवा समाज विरोधी कार्यों में लगा सकता है। रामकालीन समाज में हर व्यक्ति रचनात्मक कार्यों में संलग्न होने के कारण अपने समय का सदुपयोग करता था और अपराध आदि से दूर था, इसीलिए समाज में पूरी तरह सुख और शान्ति थी तथा समाज पूरी तरह अपराध से मुक्त था। कदाचित आधुनिक समय में अपराध में वृद्धि अन्यान्य कारणों के अतिरिक्त इस कारण से भी है कि बहुत से लोगों के पास कोई काम अथवा रोजगार नहीं है, उनके पास पर्याप्त खाली समय है, इस कारण कई लोग अपराध जगत की ओर मुड़ जाते हैं और अपने जीवन निर्वाह के लिए समाज विरोधी कृत्यों और तरह-तरह के अपराधों में संलिप्त हो जाते हैं। राम की राज्य व्यवस्था में अपराध करने अथवा समाज की मर्यादा तोड़ने के कार्यों के लिए लोगों के पास समय ही नहीं होता था। सभी लोगों के रचनात्मक कार्यों में लगे होने के कारण सम्पूर्ण समाज स्वस्थ, सुखी और सम्पन्न था। राम राज्य की स्थापना की जो संकल्पना आधुनिक समय में की जाती है उसके पीछे रामकालीन समाज की उक्त विशिष्टताएं ही वास्तव में आदर्श के रूप में ली जाती हैं।

11. ‘भारत के संविधान’ का अनुच्छेद 14 समस्त नागरिकों को विधि के समान संरक्षण एवं विधिक समानता सम्बन्धी मौलिक अधिकार की गारण्टी देता है जबकि अनुच्छेद 19(1)(क) अभिव्यक्ति के मौलिक अधिकार की गारण्टी देता है। रामकालीन समाज में लोगों को समानता और अभिव्यक्ति सम्बन्धी अधिकार किस सीमा तक प्राप्त था और समाज कितना लोकतांत्रिक था इसका परिचय मानस के उत्तरकाण्ड की इन पंक्तियों से सहज ही मिल जाता है: **‘सुनहु सकल पुरजन मम बानी, कहहुँ न कछु ममता उर आनी, नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई, सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई, जौं अनीति कछु भाषौं भाई, तौ मोहि बरजहु भय बिसराई’** जिसका अर्थ है कि हे नगरवासियों ! मेरी बात आप सब सुनिए अवश्य, परन्तु आप सब पूरी स्वतंत्रता से वह सब कुछ कहें जो आप कहना चाहते हैं और यदि मैं भी कोई बात ऐसी कहूँ जो नीतिसम्मत अर्थात् विधिसम्मत नहीं हो तो बिना कोई संकोच और भय के आप सब मेरे मत के विरुद्ध अपनी बात अवश्य कहें और नीति विरुद्ध व विधि विरुद्ध कुछ भी कहने और करने से मुझे रोक दें। विश्व की दूसरी तमाम सभ्यताओं में किसी राजा द्वारा अपनी प्रजा को अभिव्यक्ति आदि की इतनी स्वतंत्रता और अपने बराबर अधिकार देने का कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता है। रावण द्वारा सीता का अपहरण कर लिए जाने के बाद सर्वज्ञ होने के कारण यह जानते हुए भी कि रावण सीता को ले जाकर कहां छुपाया है, राम राजनीति की मर्यादा की रक्षा करते हैं और सीता का पता लगाने के लिए वानरों को जहाँ-तहाँ भेजते हैं

जिसका वर्णन किष्किन्धाकाण्ड में तुलसीदास जी ने इस प्रकार किया है: 'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता, राजनीति राखत सुरत्राता।'

12. भारत के संविधान का **अनुच्छेद- 15** निर्देश देता है कि राष्ट्र-राज्य नागरिकों-नागरिकों के बीच धर्म, जाति, रंग, लिंग अथवा जन्म स्थान आदि के आधार पर किसी प्रकार का विभेद नहीं करेगा और सबके साथ समान व्यवहार करेगा। वर्ष 1976 में भारत की संसद ने 42वें संविधान संशोधन के द्वारा संविधान में एक नया **अनुच्छेद 51-क** जोड़ा जिसमें नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों (**Fundamental Duties of Citizens**) का उल्लेख करते हुए नागरिकों से अपेक्षा की गयी है कि वह संविधान के भाग-3 में वर्णित अपने मौलिक अधिकारों (Fundamental Rights) के साथ-साथ राष्ट्र व समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का भी निर्वाह करें। अनुच्छेद 51-क अन्य बातों के अतिरिक्त नागरिकों से यह अपेक्षा भी करता है कि वह अन्य नागरिकों के साथ सौहार्दपूर्ण व्यवहार करें और स्त्रियों की गरिमा के विपरीत कोई कार्य नहीं करें। रामकालीन समाज स्त्रियों के अधिकारों को लेकर सर्वाधिक लोकतांत्रिक समाज था जहाँ स्त्रियों को पुरुषों की ही भाँति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समान अवसर और स्वतंत्रता प्राप्त थी। स्त्रियों को अपनी पसंद का विवाह करने की छूट थी। राम और सीता का स्वयंवर प्रेम विवाह के साथ-साथ सीता द्वारा स्वयं राम का चयन करने की स्वतंत्रता का आदर्श उदाहरण है। दशरथ द्वारा आयोजित शास्त्रार्थ सभा में विदुषी दार्शनिक मैत्रेयी द्वारा उस समय के सबसे बड़े दार्शनिक विद्वान याज्ञवल्क्य को अकादमिक बहस (Academic Debate) में विद्वानों की सभा में पराजित किया जाना संसार के ज्ञात इतिहास का प्रथम उदाहरण है जहाँ किसी विद्वान महिला ने पुरुषों की सभा में सार्वजनिक रूप से बहस करते हुए विद्वान पुरुष आचार्य को पराजित कर दिया हो और समाज ने उसे न केवल स्वीकार किया हो अपितु सराहना भी की हो। प्राचीन भारत की अन्य विदुषी महिलाओं यथा लोपामुद्रा, अपाला व गार्गी आदि की पुरुषों की ही भाँति सार्वजनिक जीवन में व उच्च अकादमिक संस्थानों में उपस्थिति और अपनी अकादमिक श्रेष्ठता को समाज के समक्ष प्रकट किये जाने जैसे अनगिनत उदाहरणों से प्रमाण मिलता है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों व पुरुषों के अधिकारों के बीच कोई भेदभाव नहीं था और सभी को एकसमान अधिकार व अवसर प्राप्त थे। राम द्वारा जंगल में आदिवासी वर्ग की अशिक्षित स्त्री सबरी के हाथों बेर खाकर उसका आतिथ्य स्वीकार करना और यहाँ तक कि उसके द्वारा जूठी की गयी बेरों को भी प्रसन्नतापूर्वक खाना संसार के लिए एक विलक्षण उदाहरण है जहाँ संभ्रान्त कुल का राजकुमार अशिक्षित आदिवासी महिला को भी न केवल अतिशय आदर देता है अपितु किसी भी प्रकार की छुआ-छूत (Untouchability) नहीं मानते हुए महिला को इतना अधिक सम्मान दिया हो। भारत के संविधान के अनुच्छेद 17 द्वारा सभी प्रकार की छुआ-छूत की प्रथा को समाप्त किया जा चुका है। रामकालीन समाज व शासन व्यवस्था भी सभी प्रकार के छुआ-छूत, स्त्रियों के प्रति लैंगिक विभेद (gender discrimination) आदि जैसी बुराइयों से पूरी तरह मुक्त था और स्त्रियों को पुरुषों की ही भाँति समस्त प्रकार के अधिकार और स्वतंत्रता प्राप्त थी जो आज के विश्व के लिए एक आदर्श उदाहरण है।
13. रामकालीन शासन व्यवस्था में अधिकारों के ऊपर कर्तव्यों एवं लोक-मर्यादा को महत्व दिया जाता था। लोकमर्यादा को प्रवर्तित करने वाला लोकधर्म वस्तुतः लोक सापेक्ष व काल सापेक्ष होता है, स्थिर होते हुए भी गतिशील होता है। त्रेतायुग में "राजसत्ता" के प्रथम अधिकारी होते हुए भी राम अपने इस अधिकार को प्रजा के आग्रह व दबाव के उपरान्त भी स्वीकार नहीं करते हैं और लोकमर्यादा अथवा लोकधर्म की रक्षा के लिए राज्य छोड़कर वनवास के लिए चले जाते हैं परन्तु द्वापर युग में इसी राजसत्ता सम्बन्धी अधिकार के लिए पाण्डवों व कौरवों के मध्य महाविनाशकारी महाभारत का युद्ध होता है। धर्म और अधर्म का अर्थ बहुधा

बहुत से मनुष्यों को स्पष्ट होते हुए भी वह प्रायः उसी प्रकार अधर्म में आसक्तिवान होकर लिप्त हो जाते हैं जैसे कौरवों और पाण्डवों के बीच महाविनाशकारी महाभारत के युद्ध को टालने एवं उन्हें इसके लिए तैयार करने के प्रयोजन से श्रीकृष्ण के द्वारा धर्म व अधर्म आदि का उद्घरण देते हुए समझाने पर दुर्योधन ने श्रीकृष्ण से इन शब्दों में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी कि: **“जानाम्यधर्मम् न च मे निवृत्तिः, जानामि धर्मम् न च मे प्रवृत्तिः”** (अर्थात् अधर्म क्या है इसे मैं जानता हूँ परन्तु उससे मेरी निवृत्ति अथवा मुक्ति नहीं है और धर्म क्या है उसे भी मैं जानता हूँ परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति अथवा रूचि नहीं है)। धर्मसम्मत मार्ग से विमुख होने और अधर्मपरायण होने का मनुष्य के जीवन में और समाज में भी किस प्रकार के अनिष्टकारी भयावह परिणाम हो सकते हैं यह धर्म-विमुख दुर्योधन के हस्र से सहज ही समझा जा सकता है। महाभारत के स्वर्गारोहणपर्व में महर्षि वेद्व्यास ने कहा है **“ऊध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे, धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते”** (मैं अपनी दोनों भुजाएं उठाकर यह बात दावे के साथ कह रहा हूँ कि धर्म के पालन से ही अर्थ और काम की पूर्ति सम्भव है परन्तु फिर भी कोई मेरी बात सुनता ही नहीं है । इसलिए यदि अर्थ और काम की प्राप्ति चाहते हो तो धर्म का पालन क्यों नहीं करते हो ?)।

14. आधुनिक संसार में प्रायः सभी प्रकार की शासन प्रणालियों में यह व्यवस्था विद्यमान है कि जब कोई राष्ट्राध्यक्ष यथा राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री अथवा राज्यों का मुख्यमंत्री अपना सामान्य कार्यकाल पूरा कर लेता है अथवा अपने पद से त्याग-पत्र दे देता है तो वह तब तक कार्यकारी (Officiating) राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री अथवा मुख्यमंत्री के रूप में कार्यरत रहता है जब तक नव-निर्वाचित व नव-नियुक्त राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री अथवा मुख्यमंत्री अपना पद ग्रहण नहीं कर लेता। राम के वन चले जाने पर भरत ने अयोध्या के राजा के दायित्व का 14 वर्ष तक निर्वाह किया था परन्तु भरत ने यह पद अथवा दायित्व नियमित शासक (Regular Ruler) के रूप में स्वीकार नहीं किया था अपितु कार्यकारी शासक (Officiating Ruler) के रूप में ही 14 वर्ष तक अयोध्या के शासन का संचालन किया था। किसी देश, राज्य अथवा संस्था में कार्यकारी शासक का शासनकाल प्रायः अधिक समय तक नहीं हो सकता है अपितु यह केवल उतने अल्प समय के लिए होता है जितने समय में नव-निर्वाचित अथवा नव-नियुक्त नियमित शासक अपना कार्यभार ग्रहण करता है। भरत के मामले में 14 वर्ष का कार्यकारी समय (Officiation Period) संसार भर के शासकों के लिए उदाहरण है। किसी शासक का 14 वर्ष तक का कार्यकारी काल (Officiation Period) होने का अन्य कोई दूसरा उदाहरण संसार भर के इतिहास में नहीं मिलता है। कार्यकारी काल में शासकों के लिए नीतिगत निर्णय अथवा दूरगामी परिणामों वाले निर्णयों को लेने की वर्जना होती है परन्तु कई बार कार्यकारी शासक इस वर्जना का अतिक्रमण करते हुए नीतिगत एवं दूरगामी प्रभाव वाले निर्णय भी अपने कार्यकारी काल में लेते रहते हैं जिससे विवादों का जन्म होता है। परन्तु भरत के 14 वर्ष के लंबे कार्यकारी शासनकाल में किसी प्रकार के विवाद का जन्म नहीं हुआ अपितु भरत ने कार्यकारी शासक के रूप में वह सारे निर्णय लिए जो अयोध्या की प्रजा के लिए कल्याणकारी और आवश्यक थे। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि भरत के 14 वर्ष के कार्यकारी शासनकाल में अयोध्या में कोई अराजकता अथवा असंतोष उत्पन्न हुआ हो। भरत का यह लंबा कार्यकारी शासक का कालखंड भी दुनिया भर के कार्यकारी शासकों के लिए एक अद्वितीय आदर्श है।
15. नौकरी पेशा वाले लोक सेवकों जिन्हें अपनी सेवा नियमावली तथा आचरण नियमावली से बंधे रहकर कार्य करना होता है, का काम अर्थात् सेवा-धर्म कितना कठिन होता है, इसे अयोध्याकाण्ड में इस प्रकार निरूपित किया गया है: **‘आगम निगम प्रसिद्ध पुराना, सेवाधरमु कठिन जग जाना, स्वामि धरम स्वारथहि**

विरोधू, बैरू अन्ध प्रेमहि न प्रबोधू जिसका तात्पर्य है कि शास्त्र सहित सम्पूर्ण संसार जानता है कि सेवा-धर्म (नौकरी) बड़ा कठिन धर्म है । अपने कर्तव्य का पालन करना और अपने अनुचित स्वार्थ की पूर्ति भी करना परस्पर विरोधी अवधारणाएं हैं जिनकी पूर्ति एक साथ नहीं हो सकती है जैसे बैर अन्धा होता है और प्रेम को ज्ञान नहीं होता है, इसलिए **'सबते सेवकधरम कठोरा'** कहा गया है अर्थात् सेवाधर्म (नौकरी करना) अत्यन्त ही कठिन धर्म है जिसका पालन विरले ही कर पाते हैं ।

16. राम से युद्ध करने का निर्णय लेने से पूर्व रावण ने जब अपने सचिवों (मंत्रियों) से परामर्श मांगा तब उसके कपटी सचिवों ने उसके हित की चिन्ता करने के बजाय उसके मन को अच्छा लगने वाला अहितकर परामर्श देते हुए कहा कि जब आपने देवताओं और राक्षसों को जीत लिया तो राम आदि जैसे मनुष्य और हनुमान आदि जैसे वानर किस गिनती में हैं । मूर्ख सचिवों द्वारा राजा रावण को दिये गये उक्त गलत परामर्श पर तंज कसते हुए और राजाओं/शासकों को सावधान करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी का मत देखिए: **'सचिव बैद गुर तीनि जौ प्रिय बोलहिं भय आस, राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास'** जिसका अर्थ है कि यदि राजा के सचिव, वैद्य और गुरु राजा के नाराज हो जाने के डर से अथवा किसी लाभ की आशा से राजा के हित की बात न कहकर उसे प्रिय लगने वाला परामर्श देते हैं तो शीघ्र ही राज्य, शरीर और धर्म का नाश हो जाता है ।

रामकालीन समाज की न्याय व्यवस्था

17. रामकालीन समाज में दण्ड-व्यवस्था कैसी थी, इस पर मानस के उत्तरकाण्ड का यह दोहा अवलोकनीय है: **'दंड जतिन्ह कर भेद जँह नर्तक नृत्य समाज, जीतहुं मनहि सुनिय अस रामचंद्र के राज'** जिसका अर्थ है कि श्री राम के राज्य में दण्ड देना केवल सन्यासियों के हाथों में था जिसका तात्पर्य है कि किसी को दण्ड देने का अधिकार केवल ऐसे व्यक्ति को प्राप्त था जो राग-द्वेष व पक्षपात आदि मानवीय कमजोरियों से ऊपर उठ चुका हो और विशुद्ध न्याय की दृष्टि से दण्ड की मात्रा का निर्धारण करके दण्ड दे पाने के योग्य हो । चूँकि तत्समय समाज में लोग अपराध करते ही नहीं थे इसलिए अपराधियों, चोरों व डाकुओं आदि जैसे विधि-विरुद्ध कृत्य करने वालों को साम, दाम, दण्ड, भेद जैसे उपायों का प्रयोग करते हुए उन्हें पकड़ने, उन पर मुकदमा चलाने और उन्हें दण्ड देने की आवश्यकता ही नहीं होती थी । बिना अपराध के प्रजा को अनुचित रूप से दण्ड देने वाले राजा को पापकर्मी कहकर कोसते हुए गोस्वामी जी ने उत्तरकाण्ड में इस प्रकार कहा है : **'नृप पाप परायण धर्म नहीं, करि दंड विडंब प्रजा नितही'** ।
18. राम के वनवास के दौरान जयन्त नामक कौवा ने सीता जी के चरण में चोंच मार कर उन्हें घायल कर दिया था और तब राम ने जयन्त को मृत्यु दंड नहीं देकर केवल उसकी एक आँख फोड़कर उसे दंडित किया था परन्तु उसका जीवन बचा लिया था। दंड की इस घटना का वर्णन रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार किया है: **सीता चरन चोंच हतिभागा, मूढ़ मंद मति कारन कागा। चला रुधिर रघुनायक जाना, सीक धनुष सायक संधाना। नारद देखा बिकल जयंता , लागि दया कोमल चित संता । पठवा तुरत राम पहिं ताही , कहेसि पुकारि प्रनत हित पाही । आतुर सभय गहेसि पद जाई , त्राहि त्राहि दयालु रघुराई । अतुलित बल अतुलित प्रभुताई , मै मतिमंद जानि नहिं पाई । निज कृत कर्म जनित फल पायउँ , अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ । सुनि कृपाल अति आरत बानी , एकनयन करि तजा भवानी।** जब राम ने सीक का तीर बनाकर कौवे जयन्त के पीछे छोड़ा तो कौवा तीनों

लोकों में भागता रहा और उस समय के सभी शक्ति संपन्न देवी-देवताओं तथा ज्ञानियों के पास अपनी प्राण रक्षा किये जाने के आशय से उसी प्रकार गया जिस प्रकार आज के समय में जब कोई व्यक्ति अपराध करता है और प्रथम सूचना रिपोर्ट अंकित होने पर उसे पुलिस गिरफ्तार करने के लिए दंडनी है तो अपराधी पुलिस से भागता फिरता है और अपने बचाव के लिए व विधिक परामर्श के लिए वकील की शरण में जाता है। जयन्त भी अन्ततः ज्ञानी नारद मुनि की शरण में गया और उनसे अनुरोध किया कि वह उसे राम द्वारा दिये जाने वाले मृत्यु दंड से बचा लें। एक कुशल वकील की भांति ज्ञानी नारद ने जयन्त को परामर्श दिया कि वह और किसी की शरण में जाने पर नहीं बचेगा अपितु वह सीधे सीता जिनके विरुद्ध उसने अपराध किया है उनकी और उनके पति राम की शरण में जाये और अपने अपराध के लिए क्षमा याचना करे। नारद के इस सुझाव पर जयन्त राम और सीता के समक्ष आकर उसी प्रकार आत्म समर्पण कर देता है जिस प्रकार आज के समय में अपराधी पुलिस द्वारा पकड़े और प्रताड़ित किये जाने के भय से न्यायालय के समक्ष आत्म समर्पण करके जमानत पर मुक्त किये जाने अथवा परिवीक्षाधीन (probation) का अनुरोध करता है। राम व सीता के समक्ष समर्पण करने और अपने अपराध के लिए क्षमा मांगने पर उदार चित्त राम व सीता को अपराधी जयन्त पर दया आ जाती है और तब सीता जी जयन्त पर दया करते हुए राम से उसे मृत्यु दंड नहीं देने का अनुरोध करती हैं। सीता जी के इस अनुरोध को स्वीकार करते हुए राम जयन्त को उसके अपराध के समतुल्य दंड देते हुए उसकी केवल एक आँख फोड़ देते हैं और उसे जीवन-दान दे देते हैं। आधुनिक संसार की समस्त प्रकार की न्याय प्रणालियों में अपराध की प्रकृति और दंड की मात्रा के बीच समानुपातिकता के सिद्धान्त (Doctrine of Proportionality) का अनुसरण किया जाता है और अपराधी द्वारा किये गये अपराध की प्रकृति को विचारगत करते हुए न्यायालयों द्वारा दंड की मात्रा का निर्धारण किया जाता है और तदनुसार समानुपातिक रूप से दंडित किया जाता है। समानुपातिकता के इस सिद्धान्त का सुन्दर उदाहरण राम व सीता द्वारा कौवा जयन्त को दिये गये उक्त दंड से मिलता है। भारतीय दंड संहिता (Indian Penal Code) की धारा- 265ए में Plea Bargain का नया सिद्धान्त दिया गया है जहाँ अपराधी पीड़ित के साथ समझौता-वार्ता करके दंड की मात्रा तय करता है और तब दोनों पक्ष न्यायालय को सूचित करते हैं। न्यायालय तब उभयपक्ष द्वारा आपसी समझौते से तय किये गये दंड के अनुसार अपराधी को दंड सुना देते हैं। Plea Bargain का यह नया सिद्धान्त हजारों वर्ष पूर्व राम-सीता व अपराधी जयन्त के बीच देखने को मिलता है। आधुनिक दंडशास्त्रों के ऐसे कोई दंडसिद्धान्त नहीं हैं जो प्राचीन भारत में रामकालीन समाज में अथवा उसके बाद के भारतीय समाज में भारतीय न्याय व दंड शास्त्रियों द्वारा निरूपित नहीं किये गये हों परन्तु प्रश्न यह है कि दुनिया को इसे बताये कौन ?

19. वर्तमान भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) की धाराएं 494 से 498 पति अथवा पत्नी के रहते हुए दूसरे पति अथवा पत्नी से विवाह करने अथवा पति-पत्नी जैसा सम्बन्ध रखने को वर्जित करती हैं। मानस के अरण्यकाण्ड में इस प्रकार के जारजकर्म अथवा अवैध यौन सम्बन्ध की निन्दा करते हुए उसे इस प्रकार अमान्य घोषित किया गया है: **‘एकइ धर्म एक व्रत नेमा, काय वचन मन पति पद प्रेमा, उत्तम के अस वश मन माहीं, सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं, मध्यम परपति देखइ कैसे, भ्राता पिता पुत्र निज जैसे, धर्म विचारि समुझि कुल रहई, सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई, पति वंचक परपति रति करई, रौरव नरक कल्प सत परई।’**
20. बालि द्वारा अपने छोटे भाई सुग्रीव की पत्नी को बलपूर्वक छीन कर अपने अधीन रख लेने की शिकायत सुग्रीव से मिलने पर राम जब बालि को मृत्यु-दण्ड देते हैं तो बालि राम से अपने मारे जाने का कारण पूछते

हुए कहता है: 'मैं बैरी सुग्रीव पियारा, अवगुन कवन नाथ मोहि मारा' । तब बालि को मृत्यु-दण्ड दिये जाने का कारण बताते हुए राम उससे उस समय प्रचलित दण्ड व्यवस्था का उल्लेख करते हुए कहते हैं: 'अनुज वधू भगिनी सुत नारी, सुनु सठ कन्या सम ए चारी, इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई, ताहि बधे कछु पाप न होई' जिसका अर्थ है कि हे मूर्ख बालि ! सुन, छोटे भाई की पत्नी, बहिन, पुत्रवधू और बेटी, ये चारों समान होती हैं और जो इनको बुरी दृष्टि से देखता है उसे मारने में कुछ भी पाप नहीं होता है । उक्त दृष्टान्त से स्पष्ट होता है कि आधुनिक समय में मान्य दण्ड-शास्त्र के दण्डात्मक एवं निरोधात्मक सिद्धान्त (punitive & deterrent theories) रामकालीन समाज में भी प्रचलित थे । अशिष्ट एवं लोकहित के विपरीत कार्य करने वालों को दण्ड देने का भय दिखाकर भी किस प्रकार सुधारा जा सकता था और उनसे लोकहित के कार्य करवाये जा सकते थे, इसका जीवन्त चित्रण सुन्दरकाण्ड के उस प्रसंग से मिलता है जहाँ बार-बार विनती करने पर भी जब समुद्र ने श्रीराम की सेना को समुद्र के पार लंका जाने के लिए मार्ग नहीं दिया और तब श्रीराम के द्वारा अपने धनुष पर बाण तानकर समुद्र को सुखा देने की चेतावनी देने मात्र से समुद्र भयभीत हो गया और श्रीराम को सुझाव दिया कि समुद्र के उस पार लंका तक जाने के लिए नल-नील के माध्यम से समुद्र में पत्थर डालकर पुल बना लिया जावे । उक्त प्रसंग से सम्बन्धित सुन्दरकाण्ड का दोहा 'विनय न मानत जलधि जड़ गये तीन दिन बीति, बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति' वस्तुतः दुष्ट को वास्तविक दण्ड देने से पूर्व अन्य उपायों के द्वारा भी उसमें सुधार लाने के लिए दण्ड-विधि के निरोधात्मक व सुधारात्मक सिद्धान्तों (preventive & reformatory theories) की ओर इंगित करता है ।

21. भारतीय दण्ड संहिता की धाराएँ 96 लगायत 106 जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा हेतु किसी भी व्यक्ति को आत्मरक्षा का अधिकार प्रदान करती हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी को शारीरिक क्षति अथवा उसकी सम्पत्ति को क्षति पहुँचाता है तो उसे यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपनी व अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए अपने आत्मरक्षा के अधिकार का प्रयोग करते हुए हमला करने वाले व्यक्ति को उतनी शारीरिक क्षति पहुँचा सके जितनी उसे क्षति पहुँचाने से रोकने के लिए आवश्यक हो। रामकालीन न्याय व्यवस्था में भी लोगों को हमलावर के विरुद्ध आत्मरक्षा का अधिकार प्राप्त था। हनुमान जी सीता की खोज में जब लंका में प्रवेश किए तो वहाँ उन्हें लंका के राक्षसों ने घेर लिया और उन पर हमला कर दिया और तब हनुमान जी ने अपनी आत्मरक्षा के अधिकार का प्रयोग करते हुए रावण के कई राक्षसों को मार डाला। जब मेघनाद अन्ततः हनुमान जी को पकड़कर रावण के दरबार में प्रस्तुत करता है और रावण हनुमान जी से यह पूछता है कि उन्होंने राक्षसों को क्यों मारा और उद्यान के वृक्षों आदि को क्षति क्यों पहुँचाई तब हनुमान जी ने अपनी आत्मरक्षा के अधिकार का उल्लेख करते हुए रावण को जो उत्तर दिया उसका वर्णन रामचरित मानस के सुन्दर काण्ड में गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा इस प्रकार किया गया है:

खायउँ फल प्रभु लागी भूँखा, कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा।
सब कें देह परम प्रिय स्वामी, मारहिं मोहि कुमारग गामी।
जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे, तेहि पर बाँधेउँ तनयँ तुम्हारे।
मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा, कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा।

22. अपराधियों को दण्ड देने में राजा द्वारा कोई अनुचित दयालुता दिखाने तथा अपराधी-अपराधी में विभेद नहीं करने का परामर्श इस प्रकार दिया गया है "तत्त्वविद्भिश्च बहुभिः सहासीनो नरोत्तमैः, कर्तारमपराधं च देशकालौ नयानयौ, ज्ञात्वा सम्यग्यथाशास्त्रं ततो दण्डं नयेत्प्रभु" अर्थात् दण्ड शास्त्र को भलीभाँति जानने

वाले श्रेष्ठ पुरुषों के साथ बैठकर राजा परामर्श करे और तब अपराधी, अपराध, देश, काल, न्याय और अन्याय की समुचित विवेचना करके दण्ड शास्त्र में दी गयी व्यवस्था के अनुसार राजा अपराधी को दण्ड देवे। महाभारत के अनुशासन पर्व में लोकमर्यादा एवं विधि के शासन के प्रवर्तन की दृष्टि से एक सजग शासक अथवा न्यायकर्ता के कर्तव्य क्या होने चाहिए, इसे महर्षि अत्रि ने निम्नवत् निरूपित किया है: **दुष्टस्य दण्डः सुजनस्यपूजा, न्यायेन कोषस्य च संप्रवृद्धिः, अपक्षपातोर्थेषु राष्ट्ररक्षा, पंचैव यज्ञाः कथिताः नृपाणाम् (अत्रिस्मृति):** अर्थात् राजाओं के लिए पाँच कार्य यज्ञ के समान बताए गए हैं: **1.** दुष्टों को दण्ड देना, **2.** सज्जनों को सम्मान देना, **3.** न्यायपूर्वक कोष की वृद्धि करना, **4.** पक्षपातरहित होकर याचकों की आवश्यकता पूरी करना, **5.** राष्ट्र रक्षा। अपराध नियंत्रण की दृष्टि से महाभारत के अनुशासन पर्व में राजा का कर्तव्य इस प्रकार बताया गया है: **लुब्धाः कठोरावाप्स्य मानवाः दस्युवृत्तयः, निग्राह्या एव ते राज्ञा संगृहीत्वा यतस्ततः** अर्थात् लोभी, निष्ठुर तथा डाका डालने वाले मनुष्यों को राजा को जहाँ-तहाँ से पकड़वाकर उन्हें कारागार में डाल देना चाहिए। महाभारत के दान-धर्मपर्व में भी कहा गया है: **“गुहान् विगर्हयेदेव पूज्यान् सम्पूजयेत् तथा, दण्डयांश्च दण्डयेद्देवि नात्र कार्या विचारणाः”** जिसका अर्थ है कि राजा निन्दनीय मनुष्यों की निन्दा करे, पूजनीय मनुष्यों का सम्मान करे तथा दण्ड के योग्य मनुष्यों को दण्ड देवे और इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं रखे। **अपराधानुरूपेण दुष्टं दण्डेन शासयेत्, धर्मः प्रवर्तते तत्र यत्र दण्डरुचिर्नृपः, नाधर्मो विद्यते तत्र यत्र राजाक्षमान्वितः, अशिष्टशासनं धर्मः शिष्टानां परिपालनम्** जिसका तात्पर्य है कि राजा दुष्ट को उसके अपराध के अनुसार दण्ड देकर उसका शासन करे, जहाँ राजा न्यायोचित दण्ड देने में रुचि रखता है वहाँ धर्म अर्थात् विधि का पालन होता है, जहाँ राजा क्षमाशील न हो वहाँ अधर्म नहीं होता, अशिष्ट पुरुषों को दण्ड देना और शिष्ट पुरुषों का पालन करना राजा का धर्म है। **वध्यांश्च घातयेद् यस्तु अवध्यान् परिरक्षति, अवध्या ब्राह्मणा गावो दूताश्चैव पिता तथा, विद्यां ग्राह्यते यश्च ये च पूर्वापकारिणः, स्त्रियश्चैव न हन्तव्या यश्च सर्वातिथिर्नरः** जिसका तात्पर्य है कि राजा मृत्यु-दण्ड के योग्य पुरुषों को मृत्यु-दण्ड देवे, जो मृत्यु-दण्ड के योग्य नहीं हों उनकी रक्षा करे, विद्वान, गौ, दूत, पिता, जो विद्या पढ़ाता हो अथवा अध्यापक हो और पूर्व में कोई श्रेष्ठ कार्य किया हो, ऐसे लोग मृत्यु-दण्ड के योग्य नहीं माने गये हैं, स्त्रियों का तथा जो सब का अतिथि-सत्कार करने वाला हो उस व्यक्ति को भी मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए।

जैसा कि उपरोक्त दृष्टान्तों से विदित होता है रामकालीन समाज में श्रेष्ठ कोटि की शासन व्यवस्था, विधि, न्याय व दण्ड की तर्कसंगत व्यवस्था विद्यमान थी और विधि के शासन से शासित रामकालीन समाज सब प्रकार से सुखी, समृद्ध व शांतिपूर्ण था।
